

पुस्तकें ज्ञान की कुञ्जी हैं अतः पढ़िये और वितरण कीजिये ।

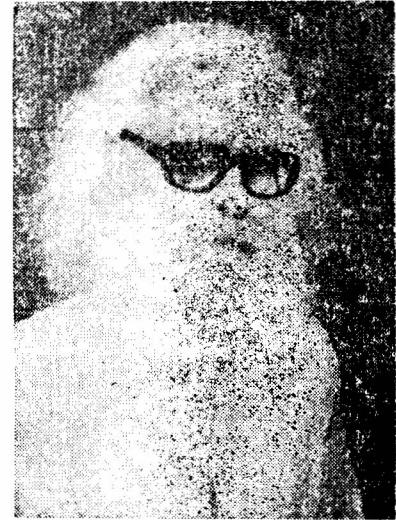
ॐ संस्थान प्रकाशन ॐ

(श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक कृत)

१-मनुष्य बन	२००) ६० सैकड़
२-आदर्श परिवार	२००) ,, ,,
३-पत्ते पर तेरा निवास	१००) ,, ,,
४-धर्म का तत्व	२००) ,, ,,
५-गायत्री	२००) ,, ,,
६-देश के पहरेदारों से	१००) ,, ,,
७-ईश्वर नाम मणिमाला	३००) ,, ,,
८-मृग तृष्णा	१००) ,, ,,
९-मुसलमान बन्धुओं ! विचार करो	२००) ,, ,,
१०-आर्य समाज तब, अब और आगे	२००) ,, ,,
११-हवन यज्ञ और विज्ञान	५००) ,, ,,
१२-कुछ ज्वलन्त प्रश्न (भारत के मुसलमानों जरा सोचो)	२००) ,, ,,
१३-वर्ण जन्म से नहीं, गुण कर्म से	२००) ,, ,,
१४-नमस्ते वनाम नमस्कार	२००) ,, ,,
१५-हिन्दू नहीं आर्य	२००) ,, ,,
१६-ऋषि दयानन्द की मान्यतायें	३००) ,, ,,
१७-पथरीली नदी	२००) ,, ,,
१८-मुक्ति के अधिकारी	१००) ,, ,,
१९-माता-पिताओं से	२००) ,, ,,
२०-एक ही रास्ता	२००) ,, ,,
२१-नारी का शील	१००) ,, ,,
२२-बिद्यार्थी	२००) ,, ,,
२३-अमृतमय छाया	२००) ,, ,,
२४-हिन्दूओं सावधान	२००) ,, ,,
२५-भारत की राष्ट्रीय धारा और भारतीय मुसलमान	२००) ,, ,,
२६-देश भक्तों सावधान ! भारत में विद्रोह की तैयारी	२००) ,, ,,
२७-तीन प्रकार के बन्धन	२००) ,, ,,
२८-आर्यों का आदि देश भारत	२००) ,, ,,
२९-भड़कती साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता	२००) ,, ,,
३०-आर्य समाज क्या है ?	२००) ,, ,,
३१-मानवीय स्वास्थ्य और मनोरम अनुभूतियों के प्रबल सत्र	२००) ,, ,,

ओ३म्

उपनिषद् विद्या और वेदान्त



प्रणेता :

वेदवागीश, व्याख्यान वाचस्पति

पूज्यपाद श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक

प्रकाशक :

वैदिक संस्थान नजीबाबाद

जनपद बिजनौर, उत्तर प्रदेश

प्रथमावृत्ति

२२००

मूल्य
चार रुपये

(एक)

उपनिषद्-विद्या

वास्तविकता यह है कि उपनिषद् किसी पुस्तक का नहीं अपितु एक विद्या का नाम है। अनेक पुस्तकों उपनिषद् के नाम से प्रचलित है। उन सब पुस्तकों में उपनिषद् विद्या है और न केवल है ही अपितु उसका विषय विवेचन है। किन्तु उपनिषद्-विद्या इतनी ही है, जितनी पुस्तक रूप में उपलब्ध है, ऐसा मान बैठना भ्रान्ति होगी।

उपनिषद् जैसा कि इस शब्द से ही प्रकट है, उप = निकट, निषद् = बैठना, सम्पूर्ण शब्द का अर्थ हुआ 'निकट बैठना'। किसके निकट बैठना? जिसका वर्णन इस नाम के ग्रन्थों में किया गया है। उपनिषद् अध्यात्म-विद्या के ग्रन्थ हैं। विद्या शब्द का अर्थ है ज्ञान अतः उपनिषद्-विद्या का अर्थ हुआ वह ज्ञान जिसके द्वारा परमात्मा से निकटता स्थापित की जा सके।

उपनिषद् तथा निकटता स्थापित करना—इन शब्दों का ध्वनितार्थ यह है कि अभी तक निकटता नहीं है। निकटता होती तो निकटता प्राप्त करने अथवा निकटता स्थापित करने का प्रश्न ही कुछ नहीं था।

इससे यह सन्देह कहो या प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या परमेश्वर किसी स्थान विशेष पर रहता है? क्या वह सर्वव्यापक नहीं है? परमेश्वर किसी स्थान विशेष पर नहीं है। वह तो सर्वदेशीय और सर्वव्यापक है। यदि ऐसा है तो दूरी किस बात की? फिर तो वह प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर साथ ही

नहीं है अपितु प्रत्येक समय हमारे भीतर भी है। दूरी का अर्थ पृथक् स्थान हो नहीं होता।

दूरी केवल स्थान अर्थात् देश की ही नहीं होती। देश की दूरी भी होती है और साथ ही समय और ज्ञान की भी दूरियाँ होती हैं। इस प्रकार तीन प्रकार की दूरियाँ हुयीं। कहीं दूरी का अर्थ स्थान की दूरी होती है? कहीं समय की दूरी और कहीं ज्ञान की दूरी? स्थान को दूरी को दो स्थानों के मध्य की दूरी कहते हैं। फिर चाहे वह स्थान नगर हो, ग्राम हो, देश हो या अन्य दो प्राणी अथवा वस्तु विशेष हों, सर्वव्यापक होने के कारण क्योंकि परमेश्वर हमारे भीतर भी है, अतः यह देश अथवा स्थान की दूरी तो हमारे और उसके मध्य में है ही नहीं एतदर्थमेव उससे निकटता प्राप्त करने के लिये कहीं, किसी स्थान विशेष पर जाने का तो प्रश्न ही नहीं।

जहाँ तक प्रश्न समय की दूरी का है, समय अर्थात् वर्ष, मास, दिन, प्रहर, घड़ी, पल, विपल आदि। ऐसी कोई बात तो है नहीं कि ईश्वर दो वर्ष पहले अथवा चार दिन पहले, मिल सकता था या दो मास अथवा पन्द्रह दिन बाद मिलेगा। वह तो प्रत्येक समय मिल सकता है और जीवनपर्यन्त न मिले—यह भी हो सकता है। हमारे भीतर भी व्यापक होने के कारण प्रत्येक समय मिला हुआ है। तीसरी दूरी है ज्ञान की। यदि कोई वस्तु हमारे पास ही रखी हो और हम उस वस्तु को न जानते हो तो उसके द्वारा होने वाले लाभ से वंचित ही रहेंगे। उदाहरण के लिये कोई स्वामी अपने भृत्य को कोई वस्तु उठा लाने को कहे। भृत्य वहाँ जाय, जहाँ वह वस्तु रखी है, किन्तु वह उस वस्तु की आकृति आदि का ज्ञान न रखता हो तो उसके सामने यह प्रश्न होगा कि इन रखी हुई अनेक वस्तुओं में से वह कौन सी है, जिसे उठा लाने को स्वामी ने कहा था? वह वस्तु जिसे ले जाने के लिये वह आया है, अत्यन्त निकट

है, सामने रखी है, किन्तु आकृति का ज्ञान न होने से नहीं उठा पाता। वह निकट होते हुए भी उसके लिये तो दूर ही है, उसकी दूरी केवल न जान पाना है। यदि उसे जान ले, उसकी आकृति का ज्ञान हो जाय तो कोई भी लेशमात्र भी दूरी नहीं है। फिर तो वह निकट, अतीव निकट है। इसी को ज्ञान की दूरी कहते हैं। यही ईश्वर और मानव के मध्य की दूरी है। यदि यह निकल जाय तो ईश्वर की प्राप्ति में क्या देर? देर तो ईश्वर के स्वरूप को जान लेने की है। जो स्वरूप को जानेगा, वही तो पहचानेगा। स्वरूप को न जानकर ही तो भटक रहा है। स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही तो स्वार्थी और धूर्त जनों के द्वारा ठगा जाता है। प्रभु के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही तो उसके विषय में अनेक अनर्गल कल्पनायें कर रखी हैं, मानव ने। उसके स्वरूप के ज्ञान के अभाव में ही तो उसकी नाना प्रकार की मूर्तियाँ बना रखी हैं।

वेद ने तो स्पष्ट घोषणा की हुयी है “न तस्य प्रतिमा अस्ति” (यजु० 32/3) उसको प्रतिमा नहीं है। हो सकती भी नहीं क्योंकि वह शरीरधारी नहीं है। शरीरधारी की प्रतिमा बनायी जा सकती है, अशरीरधारी की, अशरीरी की नहीं। जिसका कोई शरीर न हो उसकी आकृति नहीं हो सकती। वेद ने तो इस विषय में भी अत्यन्त स्पष्ट घोषणा कर रखी है।

सः पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरशुद्धमपापविद्धम् । कवि-
मैनाधी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतोभ्यः
समाभ्यः ॥ यजुर्वेद ४० । ८ ॥

इस मन्त्र में कहा गया है कि वह परमात्मा सब ओर व्याप्त है, बल का भण्डार, शरीर रहित, उसके फोड़ा-फुन्सी नहीं होते, घाव आदि नहीं लगते, वह नाड़ी-नस के बन्धन से बाहर है अर्थात् उसके नस-नाड़ियाँ नहीं हैं, वह शुद्ध है और उसके द्वारा पाप नहीं

होते। वह क्रान्तदर्शी और मननशील है, सर्वत्र स्थित है, स्वयं स्थित है और अपनी शाश्वत प्रजाओं, जीवात्माओं के लिये यथोचित अर्थो अर्थात् भोग्य पदार्थों की व्यवस्था करता है।

इस मन्त्र में परमात्मा को सब ओर व्याप्त और सब ओर स्थित कहा है। देहधारी न तो सब ओर तथा सब पदार्थों में व्याप्त हो सकता है और न सर्वत्र स्थित ही हो सकता है। वह तो एक समय में एक ही स्थान पर रह सकता है। आगे तो स्पष्ट ही कह दिया है कि वह काय अर्थात् देह वाला नहीं है। कोई भ्रान्ति ही न रहे, इसके आगे कहा है कि उसके फोड़े, घाव आदि नहीं होते। घाव आदि की सम्भावना तो शरीर में ही होती है। शरीर नहीं है, इसलिए घाव भी नहीं होते। नाड़ी रहित का अर्थ भी देह रहित होना ही है। देह होती तो नाड़ियाँ अवश्य होती। देह होती तो अशुद्ध भी हो सकती थी। अशुद्धियाँ तो लगनी ही देह में ठहरें। वह शुद्ध है, इसका भी यही अर्थ है कि देह-रहित है। पाप और मक्कारियाँ मनुष्य दैहिक सम्बन्धों में फँसा होने के कारण ही करता है। भगवान के द्वारा पाप इसलिए नहीं होता क्योंकि वह देह और दैहिक सम्बन्धों से आवद्ध नहीं है। इस मन्त्र के अर्थों पर विचार करने से अत्यन्त स्पष्ट है कि भगवान शरीरधारी नहीं अतः उसकी मूर्ति की कल्पना करना कोरी अविद्या और अज्ञान अर्थात् उस प्रभु को न समझना ही है। स्थान विशेष पर अवस्थित अवतार आदि मानवों अथवा मूर्ति की कल्पना में मनुष्य तभी तक फँसा रहता है, जब तक वह यह ठीक से न समझले कि परमात्मा क्या है? जहाँ यह समझ आयी कि ज्ञान की दूरी समाप्त हुयी और परमात्मा की प्राप्ति हुयी। ज्ञान की दूरी के समाप्त होने का नाम ही निकटता प्राप्त करना है। यह ज्ञान जिस पुस्तक अथवा विचार से प्राप्त हो—उसका नाम उपनिषद् है।

* वेदान्त *

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि उपनिषद् एक विद्या है और उस पर जितना विचार किया जाय, उतनी ही उपलब्धि अध्यात्म क्षेत्र में होगी। उतनी ही प्रभु से निकटता हो जायगी। जहाँ तक हमने समझा है, यह उपनिषद् की पराकाष्ठा है। इस पराकाष्ठा को वेद ने निम्न मन्त्र में प्रस्तुत कर दिया है—

यदग्ने स्यामहत्त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥ ऋ० ८।४।२३ ॥

अर्थात् हे परमात्मन् ! हे प्रकाशमय प्रभो ! मैं आपके निकट पहुँचा तो किन्तु अब मैं आप से विछुड़ना, विलग होना नहीं चाहता। मैं तो यह भी नहीं चाहता कि मैं केवल आपके पास रहूँ। मेरी तो अब यही एकमात्र अभिलाषा है कि मैं तू ही हो जाऊँ। यदि तू यह समझता है, दयामय देव ! यदि आप यह समझते हैं कि अपने अल्प सामर्थ्य के कारण मैं आप सर्वशक्तिमान के स्वरूप को धारण कर पाने में असमर्थ हूँ, आप जैसा अग्नीत्व धारण करने के योग्य नहीं हूँ तो फिर आप ही मैं हो जायें। जो भी हो, मैं अब जैसे अग्निस्वरूप जाज्वल्यमान को प्राप्त करके छोड़ने को तैयार नहीं हूँ।

इससे आगे उपनिषद् का कोई अर्थ नहीं हो सकता, कोई लक्ष्य भी नहीं हो सकता। उपनिषद् विद्या का अर्थ तो ब्रह्म प्राप्ति की ओर जीव को ले चलना ही है। उस ओर चलने के लिये इस विषय का विषद विज्ञान है, उस सबका विवेचन इस लेख में सम्भव नहीं।

—०—

आजकल वेदान्त की बड़ी धूम है, भारत में ही नहीं—विदेशों में भी। भारत में तो बड़े-बड़े वेदान्त सम्मेलन भी होते हैं अखिल भारतीय स्तर तक—और इन सम्मेलनों में बड़े-बड़े विद्वानों, बड़े-बड़े महारथियों के अत्यन्त मार्मिक, ओजस्वी तथा लच्छेदार भाषण होते हैं। सम्मेलनों का होना अच्छा है, उपयोगी है, अतः होने चाहिये। इनके होने से जनता के सामने विचार आते हैं—चित्र का कोई पहलू आता है। लोगों को विचारने, सोचने और समझने का अवसर मिलता है। भाषणों को सुनने से विचारों के कर्ण गोचर होने से मनुष्य को प्रेरणा मिलती है। वाणी की बड़ी शक्ति है—वाणी अग्नि है “वाग्वै अग्निः”। अग्निः “अग्रणीर्भवति” अग्निः अग्रणी होता है, आगे ले जाने वाला होता है, आगे ले चलने वाला होता है, आगे-आगे चलता है। वाणी सचमुच आगे-आगे चलती है। आगे ले जाने और ले चलने वाली होती है। वाणी से निकली ध्वनि सुनकर मनुष्य उसके आश्रय से अन्धरे में भी निदिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। वाणी के द्वारा ज्ञानोपदेश सुनकर मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक, भौतिक और आत्मिक दोनों प्रकार की उन्नति करता है, दोनों ही क्षेत्रों में प्रगति को प्राप्त होता है, दोनों ही क्षेत्रों में आगे बढ़ता है।

(अग् - अगि - इण्) इन तीन धातुओं से अग्नि शब्द बनता है। इन तीनों ही धातुओं का अर्थ है “गति”। जिससे जीवन में गति, प्रगति, उन्नति प्राप्त हो, उसका नाम अग्नि है, जो लोग अध्ययन नहीं कर पाते और उन्हें अध्ययन के साधन उपलब्ध नहीं

होते, वह भी सभा सम्मेलनों में विद्वान वक्ताओं की वाणी से निकले शब्दों द्वारा ज्ञान-चर्चा सुनकर अपने जीवन को पतन के गर्त से निकालकर सद्मार्ग की ओर ले जाते-देखे जाते हैं। इतिहास साक्षी है कि अत्यन्त पतित-वस्था में पड़े लोगों के जीवन भी वाणी के प्रभाव से अत्यन्त पवित्र बने हैं। इस संदर्भ में इस प्रकार की घटनाओं में से हम यहाँ यह कहने का लोभ संवरण न कर सकेंगे कि मद्यपान और वेश्या-गमन में अत्यन्त लिप्त अमीचन्द को महर्षि स्वामी दयानन्द के इन शब्दों ने कि “अमीचन्द थे तो तुम मोती, मगर कीचड़ में फँसे हो।” “भक्त अमीचन्द” बना दिया था। “अवश्यमेव भाक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्” अर्थात् किये हुए कर्मों का फल चाहे वह शुभ हो या अशुभ-अवश्यमेव भोगना पड़ता है। स्वर्गीय श्री पंडित गणपति शर्मा के भाषण में इन शब्दों को सुनकर करनाल जनपद (हरियाणा) का मुगला डाकू धर्म-प्रचारक बन गया था, एतदर्थमेव उपर्युक्त प्रकार के सम्मेलनों की उपयोगिता और उनके महत्व से नकार नहीं किया जा सकता।

यही वाणी-जो सभा सम्मेलनों में सुनने को मिलती है, लिखी जाकर पुस्तक के रूप में शिथिल और अध्ययनशील जनों के जीवनो के लिये प्रगति का कारण बनती है, किन्तु प्रश्न तो यह है कि इस प्रकार के सभा-सम्मेलनों में जो चर्चा सुनने को मिलती है और पुस्तकों में जो सामग्री पढ़ने को मिलती है, वह जीवन के लिये कितनी उपयोगी होती है? अभिप्राय यह है कि वह चर्चा जो हम सम्मेलनों में सुनते और पुस्तकों में पढ़ते हैं, विषय के अनुरूप भी होती है या नहीं। उदाहरण के लिये वेदान्त की ही बात लीजिये, जो हमारा प्रस्तुत विषय है। क्या “वेदान्त-सम्मेलन” के नाम पर श्रोताओं को वेदान्त चर्चा सुनने को मिलती है? यदि मिलती है तो कितने अंशों में? यह एक प्रश्न है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ न कुछ तो मिलता ही है, यह अलग बात है किन्तु जो मिलना चाहिये, वह भी मिलता है या नहीं?

उपर्युक्त शब्दों में वेदान्त सम्मेलनों की आलोचना करना हमारा उद्देश्य नहीं है किन्तु हमें यह सोचने का तो अधिकार है कि इन सम्मेलनों को तिरस्कृत किया जाय, पुरस्कृत किया जाय या परिष्कृत किया जाय? जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, हम इनका तिरस्कार नहीं करना चाहते-परन्तु यह भी सत्य है कि हम इन्हें पुरस्कार देने की भी तैयार नहीं। हमारी सम्मति में तो इन सम्मेलनों का परिष्कार होना चाहिये कि जो इधर-उधर की निरर्थक सामग्री, अनर्गल और अनावश्यक चर्चा इन सम्मेलनों में होती है, वह बन्द की जाय, उसकी छँटनी कर दी जाय और जो आवश्यक, अनिवार्य तथा वास्तविक वेदान्त-चर्चा है, उसे सम्मिलित किया जाय।

जहाँ तक वेदान्त सम्बन्धी साहित्य का प्रश्न है, पुस्तक विक्रंताओं के यहाँ स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त तो सरलता से मिल सकता है। स्वामी रामतीर्थ और रामकृष्ण परमहंस की वेदान्त विचारधारा के ग्रन्थ भी मिल जायेंगे किन्तु वेदान्त दर्शन-जो छः दर्शनों में से एक है, जिसके रचयिता महर्षि वेदव्यास थे, वादरायण मुनि के पुत्र और शिष्य कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास-वह परोक्ष की वस्तु बनने जा रहा है, वह पढ़ने के पीछे पड़ता जा रहा है, वह जनता की दृष्टि से दूर, अति दूर-जनता की आँखों से ओझल होता जा रहा है। वेदान्त सूत्रों के प्रणेता उस साक्षात्कृत धर्मा को लोग भूलते जा रहे हैं। उसकी ज्ञान-रश्मियाँ अब जनता की दृष्टि के सामने नहीं हैं।

जब उस महा-तपस्वी और महा-मनीषी महर्षि वेदव्यास का वेदान्त दर्शन ही जनता की दृष्टि में नहीं है तो उसका मूल-स्रोत अर्थात् वह ज्ञान अत्यन्त तपस्या पूर्वक जिसका मन्यन करके अपनी प्रतिष्ठिता प्रज्ञा द्वारा उस तपोधन ने मानव-कल्याण के लिये इन सूत्रों की रचना की थी, वह जनता के सामने किस प्रकार आये? जनता उस अक्षय ज्ञान-कोष को किस प्रकार प्राप्त करे? यह एक

समस्या है। इसी समस्या के समाधान को लक्ष्य करके यह लेख लिखने का साहस किया गया है।

इस लेख में स्वामी विवेकानन्द जी महाराज, स्वामी रामतीर्थ जी तथा परमहंस स्वामी रामकृष्ण जी के दार्शनिक दृष्टिकोण की आलोचना हम नहीं कर रहे—न हम उनके महत्व को ही कम करना चाहते हैं और न कम करके आँकना चाहते हैं। हम तो इन मनीषियों को अपने-अपने समय की विभूतियाँ मानते हैं किन्तु हमें यह कहने में लेश-मात्र भी संकोच नहीं है कि इन तीनों ही मनीषियों की विचारधारा कालावद्ध है। यह तीनों आचार्य शंकर के पीछे चलते हैं। इनके प्रेरणास्रोत आद्य शंकराचार्य हैं ! और शंकराचार्य की विचारधारा तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरित तथा प्रभावित है। उस समय अबाध गति से फैलते हुए बौद्ध और जैन मतों की अनोखरवादी विचार धारा से आकुल होकर परम आस्तिक भगवान शंकराचार्य ने ईश्वरवाद की विचार धारा के रक्षण, प्रचार तथा प्रसार के लिये इस विचारधारा को अपनाया था, जो शंकर-दर्शन नाम से प्रचलित है और जिसे सामान्यता लोग अद्वैतवाद के नाम से जानते हैं।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जगद्गुरु शंकराचार्य के विषय में अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के एकादश सम्मुलास में लिखा है—“जो जैनियों के खण्डन के लिये ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव-ब्रह्म की एकता कथन की थी।” इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि जगद्गुरु की विचारधारा तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित थी। “विषय विषं औषधम्” अर्थात् विष की औषधि विष ही होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार आचार्य शंकर ने “सब कुछ प्रकृति ही है, ईश्वर है ही नहीं, जैनियों और बौद्धों की इस विचारधारा के साम्मुख्य के लिये—“सब कुछ ईश्वर ही है, और कुछ है ही नहीं” की सामान्तर रेखा खींची थी। उन्होंने उस समय

को वेदान्त दर्शन की गहराइयों में जाने के लिये उपयुक्त नहीं समझा था।

वेदान्त दर्शन—जिसके रचयिता महर्षि वेदव्यास हुए हैं और जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं—वह सत्य, अपरिवर्तित, कालातीत तथा मूलभूत सिद्धान्तों और सत्यताओं का तत्त्व सार-संग्रह है, और उसका मूलधार वेद है। वह वेद जो अकाल पुरुष की देन है, जो उस अनादि पूर्ण-पुरुष परमेश्वर के ज्ञान में सदा-सर्वदा बना रहता है। जो कालावाधित नहीं अर्थात् जिसका सम्बन्ध न भूत से है, न वर्तमान से और न भविष्य से। जो सब कालों में उस-उस काल के अनुसार समस्त मौलिक समस्याओं के वास्तविक हल प्रस्तुत करता है। जिसमें समस्त सत्य विद्याओं का मूल है, जिसमें ऐसी कोई बात नहीं, जो अनुपयोगी हो चुकी हो अथवा आगे किसी काल में अनुपयोगी हो जायगी। जिसमें ऐसी भी कोई बात नहीं, जिसकी केवल भविष्य में आवश्यकता होनी सम्भव है, या जो केवल भविष्य के लिये ही है। न वह ऐसा भण्डार है, जिसकी रचना किसी देश विशेष के लिये ही की गयी हो। वह तो ऐसा ज्ञान-भण्डार है, जो सार्वकालिक और सार्वभौमिक ही नहीं अपितु उससे भी—सार्वभौमिक से भी आगे समस्त सृष्टि में जहाँ-जहाँ भी मानव है या उसकी उपस्थिति सम्भव है—यह ज्ञान परमोपयोगी है। कारण इसका यही है कि यह किसी मनुष्य की नहीं अपितु ईश्वरोप देन है।

आप कहीं भी वार्ता कर देखिये—अपवादों की तो बात नहीं कही जा सकती, किन्तु सामान्यतया वेदान्त की बात करने वाले लोगों की समझ में यह नहीं आता कि वेदान्त वेद का का तत्त्व है अथवा वेदान्त का मूल वेद में है। सामान्यता तो लोग यही समझते हैं कि वेदान्त आचार्य शंकर की देन है। हाँ, कुछ लोग महर्षि व्यास के वेदान्त-दर्शन तक जाने को तैयार हैं। इसके आगे विचार करने

को तो अपवाद स्वरूप और बिरले ही अत्यन्त अध्ययनशील तथा गम्भीर तत्व चिन्तक व्यक्ति ही तैयार होते हैं।

वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है और वेदान्त का अर्थ (वेद + अन्त) वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त। ज्ञान दो प्रकार का होता है, एक व्याख्यात्मक और दूसरा क्रियात्मक। व्याख्यात्मक ज्ञान का नाम “श्रुति” है और क्रियात्मक ज्ञान का नाम है “दर्शन” वेद का भावार्थ है—वेद सम्मुच्चय, वेद चतुष्टय अर्थात् वेदों में वर्णित ज्ञान विज्ञान, कर्म और उपासना। दूसरे शब्दों में अर्थात् लौकिक व्यवहार में ज्ञान, विज्ञान पूर्वक कर्म करके फल प्राप्त करना। एक तो ज्ञान हुआ, दूसरा विज्ञान—इन दोनों के अनुसार कर्म करने से ही सफलता प्राप्त होती। ज्ञान है श्रुति और विज्ञान है दर्शन। वेद का नाम श्रुति भी है। जब तक कागज आदि साधन नहीं थे, जिससे पुस्तक का निर्माण हो सके, तब तक वेद सुन और सुनाकर ही पढ़ा और पढ़ाया जाता था। अतः श्रुति शब्द से ही प्रसिद्ध हो गया। उपनिषदों को भी श्रुति कहा जाता है, सम्भवतः इसीलिए लोग उपनिषदों को भी वेद कहने लगे किन्तु बात वास्तव में यह है कि उपनिषदों में ज्ञान (परमात्म-ज्ञान) का श्रवणात्मक स्वरूप वर्णित है। उपनिषद् उपदेशात्मक (अध्यात्म) विद्या है। उपनिषद् में जिस ज्ञान का वर्णन है, उसके सुनने से मानव मनोवैज्ञानिक रूप से परमात्मा की निकटता प्राप्त होती है। उससे सुनते-सुनते और पढ़ते-पढ़ते मनुष्य उसी विचार में मग्न होने लगता है और यह स्थिति उसे भगवान् भजन और भगवद् आराधना में लगा देती है।

दर्शन हैं वैज्ञानिक विश्लेषण—यह सुनने की नहीं अपितु अनुभव करने की वस्तु है। दर्शन ग्रन्थों में जो विश्लेषण परमाणु से लेकर परमात्मा पर्यन्त तत्वों का है, वह उस-२ विषय के ऋषि द्वारा अनुभूत है। अध्यात्म की प्रयोगशाला समाधि में बैठकर अनुभव किया हुआ है। कहना चाहिये कि उपनिषद् विवेचन है

और दर्शन विश्लेषण है। उपनिषद् विद्या समझने की सामग्री देती है तो दर्शन देखने की। दर्शन इसे कहते ही इसलिये है, क्योंकि यह दिखाता है। दर्शन का अर्थ हो देखना है।

बात हम कर रहे थे वेदान्त दर्शन की। वेदान्त का अर्थ हैं—वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त और दर्शन का अर्थ है देखना। वेदान्त दर्शन का अर्थ हुआ “ज्ञान का अन्त देखना।” ज्ञान की अन्तिम सीमा, ज्ञान की पराकाष्ठा को देखना। ज्ञान दो प्रकार है—अपरा और परा, इहलौकिक और पारलौकिक, दृश्य जगत् सम्बन्धी और अदृश्य जगत् सम्बन्धी, भौतिक तत्व प्रकृति सम्बन्धी और अभौतिक (आत्म) तत्व अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा सम्बन्धी। भौतिक ज्ञान प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान—साधारण ज्ञान है और जीवात्मा—परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान—ज्ञान की अन्तिम सीमा है, ज्ञान का अन्त है, ज्ञान की पराकाष्ठा है, वह इहलौकिक नहीं—पारलौकिक ज्ञान का ग्रन्थ है। उनमें ब्रह्म की चर्चा है, अनुभूत चर्चा—जिसकी महर्षि वेद व्यास ने समाधि में बैठकर अनुभूति की थी, समाधिस्थ होकर जिसके दर्शन किये थे, जिस ज्ञान का साक्षात् किया था।

वेदान्त शब्द का दूसरा अर्थ है (वेद + अन्त) वेद का अन्त। यजुर्वेद का ४० वां अध्याय, जो उसका अन्तिम अध्याय है—वह वेदान्त है। कहने का अभिप्राय यह है कि यही अध्याय वेदान्त—दर्शन का मूल है। उपनिषद् विद्या का प्रारम्भ भी इसी अध्याय से होता है। ईशोपनिषद् जिसे ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं और जो प्रथम उपनिषद् कहलाती है—थोड़े से परिवर्तन के साथ वह यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ही है। ईशोपनिषद् में मन्त्र संहिता दी गयी है, जो विवेचनात्मक है—वेदान्त दर्शन में उसका वह तत्व प्रदर्शित किया गया है जो, अनुभूत तथा अनुभवात्मक है। जो समाधिस्थ होकर आत्म साक्षात्कार द्वारा देखा गया है। है तो उपनिषद् भी वेदान्त ही, किन्तु उपनिषद् श्रुति वेदान्त है और वेदान्त दर्शन है—

दर्शन-वेदान्त । उपनिषद् श्रवणात्मक ज्ञान है और दर्शन साक्षा-
त्कार का ज्ञान, जैसा कि ऊपर विचार किया जा चुका है । यजुर्वेद
के चालीसवें अध्याय का प्रारम्भ जिस मन्त्र से होता है, उसमें कहा
गया है कि इस गतिशील (संसार) में जो कुछ भी गति करता
दृष्टिगोचर हो रहा है, उस सम्पूर्ण में ईश्वर का वास है "ईशावा-
स्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्" । यदि पहले मन्त्र में ईश्वर की
व्याप्ति का वर्णन इस प्रकार है तो सत्रहवें मन्त्र में भी स्पष्ट
रूपेण कहा गया है कि सदैव रहने वाले (उस प्रभु) का मुख यद्यपि
इस संसार के हिरण्मय अर्थात् चमकीले पदार्थों ने ढक रक्खा है
किन्तु वह प्रभु सब स्थानों से पुकार-पुकार कर अपनी सत्ता का
पता दे रहा है, यह कहकर कि इस प्रकृति से उत्पन्न संसार में जो
निवास कर रहा है वह मैं हूँ, आगे यह कह दिया है कि वही मैं इस
सृष्टि का उत्पादक, पालक तथा सहारक हूँ । वह आकाशवत्
व्यापक तथा महान है ।

मन्त्र इस प्रकार है —

हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥

वह प्रभु किस प्रकार का है ? इस विषय में इसी अध्याय के
आठवें मन्त्र में कहा गया है—वह सब ओर व्याप्त है, बल का
भण्डार है, उसमें कोई छेद नहीं है, न उसके कोई घाव है, न वह
काटा ही जा सकता है । उसके कोई नाड़ी-नस नहीं है, वह शुद्ध
पवित्र है, पाप उसे नहीं लगते । क्रान्तदर्शी, मनीषी, सब ओर
स्थित, स्वयं स्थित, सब पदार्थों का यथार्थ रूप से रचयिता तथा
धारणकर्ता है । मन्त्र नीचे पढ़िये—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरथं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्म-
नीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥

यहीं तक नहीं अपितु इस अध्याय में स्पष्ट रूपेण कहा गया
है कि वह अत्यन्त दूर भी है और अत्यन्त निकट भी, वह सब के
बाहर भी है और सबके भीतर भी, वह कम्पित नहीं होता । वह
अकेला ही है, मन से बलवान् है, वह इन्द्रियों से नहीं प्राप्त होता
इत्यादि ।

इस प्रकार से ईश्वर के स्वरूप और उसकी स्थिति का
वर्णन उसकी प्राप्ति का उपाय तथा साथ ही प्राप्ति के अधिकारी
कौन होते हैं ? संक्षेप में यही इस अध्याय का सार है । अब थोड़ा
सा वेदान्त-दर्शन पर भी दृष्टिपात् कीजिये, जिससे आपको यह
निश्चय हो जाय कि यह लेख कल्पनाओं पर आधारित नहीं अपितु
इसमें तथ्यात्मक विचार प्रस्तुत किये गये हैं और यह कि सचमुच
वेदान्त का मूल यजुर्वेद है तथा उसका भी चालीसवाँ और अन्तिम
अध्याय ।

वेदान्त दर्शन का प्रथम सूत्र है—

सूत्र — अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ।
पदच्छेद — अथ अतः ब्रह्म जिज्ञासा ।
पदार्थ — अथ = अब, अतः = यहाँ से, ब्रह्म जिज्ञासा = विचार ।

अर्थात् अब यहाँ से ब्रह्म, के विषय में विचार प्रारम्भ करते
हैं ।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस ब्रह्म का विचार प्रारम्भ
किया जा रहा है ? ब्रह्म शब्द के क्योंकि अनेक अर्थ हैं क्योंकि यह

प्रश्न उत्पन्न होता है। ब्रह्म शब्द का अर्थ तो है वेद, दूसरा अर्थ है ज्ञान, तीसरा अर्थ है विवेक, चौथा अर्थ है वीर्य, पाँचवा अर्थ है महान्, छठा अर्थ है ब्राह्मण और ब्रह्म का सातवाँ अर्थ है परमात्मा। अध्ययन कर्त्ताओं को भ्रान्ति न हो, वह असमंजस में न पड़ जायें, क्योंकि उद्देश्य दर्शन कराना है अतः जिसका वर्णन करना उद्देश्य है, उसकी ओर प्रवृत्ति भी करानी चाहिये। दर्शन—ज्ञान या विवेक का नहीं कराना, दर्शन-वीर्य या ब्राह्मण का नहीं कराना और न महानता की ही अनुभूति करानी है अपितु अनुभूति, दर्शन, साक्षात्कार कराना है परमात्मा का एतदर्थमेव दूसरे सूत्र में कहा गया है—

सूत्र — जन्माद्यस्य यतः।

पदच्छेद — जन्म आदि अस्य यतः।

पदार्थ — यतः = जिससे, अस्य = अस्य (अस्य संसारस्य)

इस संसार के जन्म आदि होते हैं। जन्म आदि का अर्थ है—जन्म अर्थात् उत्पत्ति आदि—तथा आदि शब्द का अभिप्राय है—उत्पत्ति के आगे की स्थितियाँ धारण, व्यवस्थापन, संचालन तथा प्रलय।

प्रिय पाठकों! यह सूत्र जो वेदान्त दर्शन का दूसरा सूत्र है—प्रथम सूत्र के ब्रह्म शब्द को स्पष्ट कर देता है। इस सूत्र का कहना है कि भ्रान्ति में पड़ने की आवश्यकता नहीं। इस पुस्तक में उस ब्रह्म का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस सृष्टि को उत्पन्न करता है, इसे संभाल रहा है, इसको व्यवस्था जिसके हाथ में और उस व्यवस्था के अनुसार इसका संचालन भी जो कर रहा है तथा जो इसका प्रलय अर्थात् समाप्ति भी करता है।

इन दोनों सूत्रों की व्याख्या और ऊपर दिये हुए यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के मन्त्र पाठकों को यह स्पष्ट करने के लिये

पर्याप्त हैं कि हमारी यह धारणा जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय वेदान्त है और वेदान्त-दर्शन का मूल है—निराधार तथा मिथ्या नहीं हैं।

सामान्यतया वेदान्त के नाम पर जो प्रसिद्धियाँ हैं, उन पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाय तो वेदान्त विषयक भ्रान्तियों के दूर होने में सहायता मिलेगी। वेदान्त की चर्चा करने और वेदान्त में साधारणतया रुचि लेने वाले सज्जन जिन्हें जगद्गुरु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने “नवीन वेदान्ती” नाम दिया है प्रायः वेदान्त की मुख्य धारायें जिन्हें समझे बैठे हैं और जिनके आधार पर जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं वह यह है — “अहं ब्रह्मास्मि” अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ।

नवीन वेदान्ती इस वाक्य का यही अर्थ करते हैं। एक तो किसी वाक्य को प्रसंग में पृथक् करके उसका वास्तविकता से विरुद्धार्थ किया जा सकता है। दूसरे कई बार वाक्य का शब्दार्थ कुछ और होता है और भावार्थ कुछ और। यही इस वाक्य की स्थिति है। इसका शब्दार्थ तो यही है, जो ऊपर दिया है किन्तु भावार्थ इसके ठाक विपरीत है अर्थात् “मैं ब्रह्मस्थ हूँ, मैं ब्रह्म में स्थित हूँ, मैं ब्रह्म हूँ नहीं।”

प्रिय पाठकगण। यहाँ तात्स्थ्योपाधि है। भट्टी में दहकता हुआ कोयला भी यदि उसके पास बोलने का साधन वाणी हो—यह नहीं कहेगा कि मैं कोयला हूँ अपितु यही कहेगा कि सावधान मैं अग्नि हूँ, यदि छुओगे तो जला डालूँगा। वैसे, उपर्युक्त वाक्य भी साधक, योगी और समाधिस्थ की ब्राह्मी स्थिति, ब्रह्म में स्थित होने की दशा की अभिव्यक्ति करता है। इसी प्रकार का एक वाक्य है “मन्त्राः क्रौशान्ति” मन्त्रचान पुकारते हैं किन्तु क्योंकि मन्त्रचान जड़ होने के कारण से पुकारने की शक्ति नहीं रखते अतः इस वाक्य का वास्तविक अर्थ है—मन्त्रचानों पर बैठे हुए व्यक्ति पुकार रहे हैं। उदाहरण देखा तो पढ़िये—महाभारत अश्वमेध पर्व। वहाँ

कुरुक्षेत्र के मैदान में योगीराज श्री कृष्ण द्वारा किये गये उपदेशों की पुनः मांग करने पर योगीराज श्री कृष्ण ने अर्जुन को जो उत्तर दिया, वह इस प्रकार है—

“न च शक्यं पुनर्वक्तुं अशेषतः धनञ्जयः” और “योग युक्तेन तन्म-या” अर्थात् हे अर्जुन ! मैं आज इस ज्ञान को फिर ज्यों का त्यों वर्णन कर सकने में असमर्थ हूँ क्योंकि वह तो मैंने योग-युक्त होकर कहा था। इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि कृष्ण जी ने जो कुछ उस समय कहा था, वह ब्राह्मी स्थिति में अर्थात् ब्रह्मस्थ होकर यागस्थ होकर कहा था, वह उस समय सहज समाधि के द्वारा ब्रह्म स्थित हो चुके थे।

नवीन वेदान्तियों द्वारा प्रयुक्त होने वाला दूसरा वाक्य है—

“एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति”

इस वाक्य का अर्थ किया जाता है “एक ब्रह्म ही है, दूसरा कोई नहीं है।” अर्थात् ब्रह्म (परमात्मा) के अतिरिक्त और कोई नहीं है। यद्यपि इस वाक्य का स्पष्टार्थ यह कदापि नहीं है। वास्तविक अर्थ नीचे प्रस्तुत है।

एकम् = एक, ब्रह्म = परमात्मा, द्वितीय = दूसरा, नास्ति = नहीं है। परमात्मा एक है, दूसरा नहीं है। पाठकगण। ध्यान दें कि इस वाक्य का कितना भ्रान्त अर्थ किया जाता है। परमात्मा एक ही है, दूसरा कोई परमात्मा नहीं है, यह सभी ईश्वर के मानने वालों को मान्य है, इसमें सन्देह को अवकाश ही कहाँ है।

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के भ्रान्त अर्थों को करके वास्तविक को नहीं जाना जा सकता और यह वेदान्त नहीं अपितु भ्रान्त विचारधारा है। वेदान्त तो महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित वेदान्त दर्शन ही है और वह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय पर आधारित है। शमित्योम्।

—०—

वैदिक संस्थान नजीबाबाद के सदस्य बनकर धर्म-प्रचार के महत्वपूर्ण कार्य में सहयोग कौजिये

१-प्रधान संरक्षक :-

कम से कम एक सहस्र रुपये प्रदान करने वाले संस्थान के प्रधान संरक्षक होते हैं।

२-संरक्षक :-

कम से कम पाँच सौ रुपये प्रदान करने वाले संस्थान के संरक्षक होते हैं।

३-विशेष दानी :-

कम से कम एक सहस्र रुपये प्रदान करने वाले का लगभग दो पृष्ठ का परिचय तथा चित्र अथवा जिसकी स्मृति में वह दान दे उसका परिचय तथा चित्र एक पुस्तिका पर प्रकाशित किया जाता है।

(ख) कम से कम तीन सौ रुपये देने वाले दानी का नाम पुस्तक पर प्रकाशित किया जाता है। दानदाता यदि अपने किसी सम्बन्धी की स्मृति में यह राशि देते हैं तो उस सम्बन्धी की स्मृति पुस्तक में प्रकाशित की जाती है।

४-संस्थान का ‘पुण्य-लोक’ मासिक प्रधान संरक्षक, संरक्षकों तथा कम से कम एक सौ रुपये प्रतिवर्ष दान देने वालों को निरन्तर भेजा जाता है।